IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

गीता में जीव का स्वरूप

डा0 हरिनाथ झा, शोध–प्रज्ञ

यूजीसी, नेट, जेआरएफ्

संस्कृत वि., ल.ना.मि.विवि.दरभंगा

प्रो0 डा0 रमेश झा

से0नि0 प्राध्यापक,

पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग

ल0ना0मि0 विश्वविद्यालय, दरभंगा

भूमिका :

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधाष्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।[1]

आत्मा की व्यवहारिक प्रतीति अथवा इसके व्यवहार रूप को वेदान्त में जीवात्मा या जीव कहा जाता है। निष्क्रिय साक्षी चैतन्य और सक्रिय अन्तःकरण के मिलने से जीव की प्रतीति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम जिसे व्यक्ति कहते हैं अथवा जिसमें प्राण है वह जीव है। जीव का सम्बन्ध बुद्धि से होने के कारण विचार की क्रिया होती है। जीव में एक तो आत्मा साक्षी के रूप में विद्यमान रहता है और दूसरे कारण शरीर, तीसरे सूक्ष्म शरीर और चौथे स्थूल शरीर पाए जाते हैं। यह जीव ही कर्ता तथा सुख–दुःख का भोक्ता होता है। जब अन्तःकरण 'आत्मा' को सीमित कर देता है, तो इस चैतन्य को साक्षी कहा जाता है; और जब अन्तःकरण व्यक्तित्व का निर्माण करता है तो इसे जीव कहा जाता है। जीव का ही संबंध शुभ–अशुभ कर्मों के फल से होता है। प्रत्येक जीव सच्चिदानन्द परमात्मा का अंश होने के कारण सच्चिदानन्द स्वरूप ही है–

ईशावास्यमिदं सर्वम्।[2]

श्रीमद्शंकराचार्य जी ने जीव को ब्रह्म माना है–

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
जीवो ब्रह्मैव नापरः।[3]

---

1 गीता–18.68

2. ईशो0–1

3. ब्रह्मसूत्र शां0भा0 1

जीव के सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद् में व्याप्त है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[4]

कठोपनिषद् में भी जीव के स्वरूप का वर्णन समुपलब्ध होता है–

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च।।[5]

जीव को गीता में ईश्वर का एक अंश कहा गया है–

ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः।[6]

पर×च जीव माया के अधीन है और बाह्य प्रतीतियों में खोये रहते हैं–

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।[7]

जीव बना हुआ यह अंश अनादिकाल से उनकी ही बहिरंगनामवाली, अष्टधाविभक्त अपरनामवाली गुणमयी माया के वशीभूत होकर त्रिविधतापयुत इस भवाटवी में भटकता रहता है–

जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्यते जगत्।[8]

कूट–शब्द : जीवात्मा, जीव, साक्षी, भोक्ता, व्यक्ति, ब्रह्म, अंश, अष्टधाविभक्त, सच्चिदानन्द, अपरनामवाली, माया, ईश्वर, आत्मेन्द्रिय, गुणमयी, बुद्धियुक्त आदि।

शोध–परिकल्पना :

रामानुज के अनुसार 'बुद्धि–सम्पन्न एवं जड़ पदार्थों का समूह दोनों ही अपनी कारण और कार्य अवस्था में, जो मेरे शरीर के रूप में हैं, एक प्रकार की मणियां हैं, जो एक रस्सी में पिरोई हुई है और जो मेरे आश्रय से लटक रही हैं तथा जिन्हें मेरा ही सत्स्वरूप आत्मा प्राप्त है।'[9] शंकर अपनी भाष्य–व्याख्या में 'अंश' अथवा भाग को केवल काल्पनिक अथवा भासमान अंश का ही संकेत करता है।[10]

भगवद्गीता के वास्तविक रचयिता के वास्तविक अभिप्राय के साथ न्याय नहीं करते, क्योंकि यह 'जीवात्मा' पुरुषोत्तम का यथार्थ रूप है। शंकर की स्थिति उसी अवस्था में ठीक मानी जा सकती है, जबकि उल्लेख अखण्ड ब्रह्म का हो, जो अंशरहित है। परन्तु उस अवस्था में पुरुषोत्तम भी काल्पनिक है, क्योंकि उसमें भी अनात्मा का एक अंश विद्यमान है।

वास्तविक जीवात्मा एक कर्ता है; इस प्रकार वह विशुद्ध अमर आत्मा नहीं है, अपितु शरीरधारी आत्मा है, जो ईश्वर की सीमित अभिव्यक्ति है। उस स्वरूप के कारण जो यह अपने आप स्वीकार करती

---

4. मुण्ड0 उप0 3.1.1
5. कठ0 उप0–1.3.3
6. गीता–15.7
7. गीता–7.13
8. वही–7.5
9. रामा0 भा0–7.7
10. शां0भा0–15.7

है, अर्थात् इन्द्रियों और मन के कारण इसको पृथक् रखा गया है। जिस प्रकार प्रकृति का एक निश्चित परिणाम, अवधि एवं स्फूरण है, उसी प्रकार पुरुष भी एक निश्चित सीमा और चेतना को प्राप्त करता है। पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्त होकर प्रकृति के गुणों का सुखोपभोग करता है और उसके जन्म एवं पाप या पुण्य का कारण है, उन्हीं गुणों के साथ इनका सम्बन्ध है'–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।[11]

जीवात्मा और परमात्मा एक ही है। इसमें कोई भेद नहीं है ; केवल प्रकृति के संग से भेद सा प्रतीत होता है। समस्त शरीरों में जो चेतन जीवात्मा है, वह परमात्मा का ही अंश होने के कारण वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है। परमात्मा ही जीवात्मा के रूप में, विभिन्न शरीरों में पृथक्– पृथक् की भांति प्रतीत होता है। इसीलिए भगवान कहते हैं–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।[12]

व्यक्तिभेद के प्रकट लक्षणों के कारण हमें यह धारणा न बना लेनी चाहिए कि इस जगत् में पृथक्त्व अथवा भिन्नता है, क्योंकि मनुष्यों में भिन्नता केवल भिन्न–भिन्न भौतिक शरीरों के कारण ही है। इसी प्रकार का कथन महाभारत में भी आता है, ''गुणों से बद्ध मनुष्य जीवात्मा है और जब उन गुणों से वह स्वतंत्र हो जाता है तो वही परमात्मा अथवा सर्वोपरि आत्मा है।''[13] ऐसे वाक्यों की व्याख्या जो आत्मा एवं सर्वोपरि आत्मा के तादात्म्य की घोषणा करते हैं, रामानुज ने एक अन्य प्रकार से की है– ''आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है वह शरीर और ऐसे ही अन्यान्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध–विरहित होने पर सब वस्तुओं में व्याप्त रहता है।''[14] किन्तु आगे चलकर जहाँ गीता में आता है कि 'प्रत्येक के अन्दर जो पुरुष है वह साक्षी, आदेश देने वाला, धारण करने वाला एवं सुख का उपभोक्ता है, वह महान प्रभु और सर्वोपरि आत्मा है' तब रामानुज असमंजस में पड़ जाते हैं। ''इस प्रकार का पुरुष उन गुणों के कारण जो प्रकृति की उपज है, अपने शरीर के सम्बन्ध में ही शासक बनता है, और उच्चतम आत्मा भी इसी शरीर के कारण बनता है।''[15]

किसी एक प्रासंगिक एकवचन अथवा बहुवचन के प्रयोग मात्र से हम आत्मा के परम स्वरूप के विषय में कोई अनुमान नहीं कर सकते। जब उसके सांसारिक या आनुभविक पक्ष पर बल होता है तो बहुवचन का प्रयोग मिलता है। 'ऐसा कोई काल नहीं था जबकि मैं नहीं था, अथवा तुम नहीं थे, अथवा प्रजाओं के ये शासक नहीं थे; अथवा हम सब में से कोई भी इसके पश्चात् न रहेगा, सो भी नहीं है'।[16] उक्त कथन के आधार पर आत्माओं का सनातन नानात्व के परिणाम पर पहुँचना बहुत सरल है। रामानुज कहते हैं कि ''भगवान् स्वयं प्रकट करता है कि आत्मा का भगवान् से भेद है एवं अन्य आत्माओं से भी भेद उच्चतम यथार्थता है''। दूसरी ओर शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि 'आत्मा के ही रूप में हम त्रिकाल अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य में सनातन या शाश्वत हैं। 'उनका मत है कि बहुवचन का प्रयोग शरीरों

---

11. गीता–13.21
12. गीता–13.2
13. म0भा0शा0पर्व–187.24
14. रामा0 भा0–12:13
15. रामा0 भा0–13.23 एवं 13.33
16. रामा0 भा0 एवं शां0भा0–2.12

के ही सम्बन्ध में किया गया है, जो भिन्न–भिन्न हैं। जैसा कि अगले श्लोक में स्पष्ट है जो पुनर्जन्म के विषय में है। आत्मा के सम्बन्ध में यह बहुवचन का प्रयोग नहीं किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा केवल एक ही है।[17]

परम पद की प्राप्ति से पूर्व पुनर्जन्म होता रहता है, यह गीता का मत है। अपूर्णता के कारण उत्पन्न जीव जन्म का मृत्यु में और मृत्यु का जन्म में परिणत होना आवश्यक है। जन्म और मृत्यु का चक्र वैसी है जैसे कि शैशवकाल, युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था–

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।[18]

'जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को बदलकर नये कपड़े धारण कर लेता है; वैसे ही जीर्ण शरीरों को छोड़कर वह नये शरीर को धारण कर लेता है।'[19]

मृत्यु तो केवल एक घटना है, जो घटनास्थिति को बदल देने मात्र का कार्य करती है, अन्य कुछ नहीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा का पुनर्जन्म क्यों होता है? क्या यह क्रम निरन्तर कायम रहता है? आत्मा का पुनर्जन्म मोक्ष की प्राप्ति के लिए होता है। गीता में मोक्ष को चरम लक्ष्य माना गया है। मोक्ष सर्वोपरि आत्मा के साथ संयुक्त होने का नाम है। मोक्ष को **निस्त्रैगुण्य** भी कहा गया है। क्योंकि मोक्ष की अवस्था में तीनों गुणों का अर्थात् सत्व, रजस और तमस् का अभाव हो जाता है। मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति आत्मा एक जीवन के कर्मों से ग्रहण नहीं कर सकती। जीवात्मा अर्थात् मनुष्य को बार–बार जन्म लेना पड़ता है। गीता में कहा गया है कि मनुष्य की तरह ईश्वर का भी पुनर्जन्म (अवतार) होता है, परन्तु जीव अपने पूर्व जन्म की स्थितियों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ रहता है, जबकि ईश्वर को पूर्वजन्म की स्थिति का स्मरण रहता है। ज्योंहि आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, त्योंहि आत्मा का पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है।

यदि जीव सर्वोपरि ब्रह्म को अपने हृदय में ध्यान करता रहे तो पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। एक जन्म के बाद दूसरा और फिर तीसरा इस प्रकार यह क्रम बना रहता है, जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।[20] सूक्ष्म शरीर जिसमें इन्द्रियों की शक्तियाँ और मन रहते हैं, मृत्यु के पश्चात् भी बचा रहता है, और उसी में जीव के चरित्र, सम्बन्धी संस्कार सुरक्षित रहते हैं।[21] पुनर्जन्म एक प्रकार का घटना–स्थल है, जिसके द्वारा हम अपने को पूर्ण बना सकते हैं। गीता में देवताओं के मार्ग का भी उल्लेख है जिसमें होकर संसारी पुरुष गुजरते हैं।[22] दूसरा मार्ग पापियों का है, उसका भी वर्णन है।

आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही है। ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म को कुटस्थ, नित्य, अपरणामी, चेतन्य स्वरूप बतलाया गया है तथा सच्चिदानन्द, अद्वितीय आत्मा को ब्रह्मरूप ही कहा गया है। जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। संसार का आदि और अन्तिम आधार यही आत्मा या परमात्मा है–

---

17. शा0 एवं रामानुजभाष्य–8:4; 13:31
18. गीता–2:13
19. गीता–2.22
20. गीता–7.19
21. गीता–15.8
22. गीता–8:23; 26

''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'' ।[23]

सारा संसार ब्रह्ममय है। यह जीव भी ब्रह्म है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो आत्मा–परमात्मा के एकत्व को देखता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है–**तत्र को मोहः कः शोकः एकत्व मनुपश्यतः**[24]

जीवतत्व–पुरूष

रामानुज अपने विशेष सिद्धान्त की अनुकूलता को ध्यान में रखकर '**क्षर**' का अर्थ प्रकृति तत्त्व और '**अक्षर**' का अर्थ जीवात्मा करते हैं, फिर भी '**पुरूषोत्तम**' अथवा सर्वोपरि आत्मा को इन दोनों से उत्कृष्ट एवं ऊपर बताते हैं।

गीता अद्वैत अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त को सत्य बताती है। सर्वोपरि ब्रह्म एक निर्विकार स्वतंत्रसत्ता है। जिसके विषय में वेदान्ती वर्णन करते हैं, जिसे तपस्वी लोग प्राप्त करते हैं।

ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है, जो जगत् के अनु–अनु में व्याप्त है, जो निराकार, निर्विकार, अविनाश, अनादि, चेतन्य तथा आनन्दमय है। ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध करने की आचार्य ने कोई आवश्यकता नही समझी है। प्रथम तो अपनी आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म की सिद्धि होती है (**सर्वस्यात्मत्वात् ब्रह्मास्तित्वसिद्धिः**)

सत् वही है जो त्रिकालबाध हो, अर्थात जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदा सर्वदा नित्य एक रस और अपरिवर्तनशील रहे। यह लक्षण शुद्ध आत्मतत्त्व या ब्रह्म का है और वही सत् है। गीता में आत्म तत्त्व के लिए नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत्, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य आदि पद प्रयुक्त हुए हैं। शरीर नश्वर है, आत्मा नित्य है, अतः वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्राों को उतार कर दुसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है।[25]

गीता ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को मानती है। और यह भी मानती है कि ये दोनों रूप एक ही अभिन्न तत्त्व के हैं। ब्रह्म जगत की उत्पत्ति स्थिति और लय का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, वह शुद्ध चेतन्य और अखण्ड आनन्द है, वह निर्विकल्प निरूपाधि विश्वातीत भी है। अन्तर्यामी रूप में वह सारी प्रकृति और समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस प्रकार सूत्र में मणि–गण पिरोये रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समस्त विश्व अनुस्यूत है।[26] विश्वात्मा होते हुए भी वह विश्व में सीमित नहीं हो, वह विश्वातीत भी है, यह उसका अनुत्तम पर भाव है।[27]

गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है, अपरा और परा। अपरा प्रकृति को क्षैत्र और क्षर पुरूष भी कहा गया है। यह जड़ प्रकृति है और जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान

---

23 तैत्तिरीयोप0–3.1.3

24. ईशावास्योप0–7

25. गीता–2.22

26. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। –गीता–7.7

27. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। –गीता–7.24

है। परा प्रकृति में चेतन जीव आते हैं। इसकी अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ और अक्षर पुरूष भी है।[28] चेतन रूप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट या परा प्रकृति या विभूति हो जीव कूटस्थ और अक्षर है। जीव ईश्वर का सनातन अंश है।[29] क्षर पुरुष (जड़ प्रकृति) और अक्षर पुरुष (जीव) इन दोनों के उपर उत्तम पुरुष या पुरूषोत्तम है।[30] यह पुरूषोत्तम ही परम तत्त्व है। यह जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों का आत्मा है और दोनों के अन्तर्यामी रहकर दोनों के उपर (अतीतः) भी है यह विश्वातीत पुरूषोत्तम है। इस प्रकार गीता में सगुण ब्रह्म एवं निर्गुण ब्रह्म का सुन्दर समन्वय हुआ है।

गीता ईश्वर के व्यापक रूप जगत के परम तत्त्व चैतन्यात्मक जीव जन्तु के आधार तत्त्व की अनेकशः व्याख्या करती है। तदनुसार पुरूष के दो रूप बतलाये गये हैं क्षर और अक्षर। भौतिक जगत् के प्रत्येक जीव अर्थात् जड़, पदार्थ, अपरा प्रकृति को क्षर कहते हैं तथा अविनाशी कूटस्थ पुरूष एवं परा प्रकृति को अक्षर कहते हैं।[31]

परा प्रकृति अर्थात् ईश्वर की इस उत्कृष्ट विभूति को 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। क्षैत्र का अर्थ खेत होता है, अर्थात खेतका जानकार क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यहा क्षैत्रज्ञ आत्मा को कहा गया है। क्षेत्र शरीर ही है। गीता के विभिन्न अध्यायों में जड़विकार शून्य आत्मा का विविधरूप में वर्णन है। गीता का दूसरा अध्याय आत्मा के वर्णन से ही भरा पड़ा है। इस परिवर्तनशील जगत् में व्याप्त विश्वात्मा को क्षरपुरूष और कुटस्थ विश्वातीत आत्मा को अक्षर पुरूष कहते हैं। इस तरह अपरा प्रकृति क्षर कहलाती है। उसके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ रूप हैं, यह क्षरणशील एवं विकार्य प्रकृति है। यह प्रकृति से स्वतंत्र नहीं, बल्कि प्रकृतिस्थ पुरूष है। जन्म–मरणशील और ससीम है।

अक्षर पुरूष कूटस्थ, अविकार्य और निष्क्रिय है। प्रकृति का यह साक्षी है। अपरा प्रकृति से यह उत्कृष्ट है। यही अव्यक्त प्रकृति है। यही जीवात्मा है। यही गुणों के संग से बन्धन में पड़ता है। यही एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है।[32] यही अजन्मा नित्य और शाश्वत है। विनाशी शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता।[33] न यह किसी को मारता है।[34] यह जीवात्मा जन्म और मृत्यु से परे हैं।

---

28. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। –गीता –7.4
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे जगम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। –गीता – 7.5
द्वामिमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। –गीता – 15:16

29. ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। –गीता – 15.7

30. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रायमाविश्य बिभत्यव्यय ईश्वरः।। –गीता– 15.17
यस्मात्क्षर मतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। –गीता– 15.18

31. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षराऽक्षर एव च। –गीता–15.16

32 गीता–2.22

33 गीता–2.20

34 गीता–2.21

यह अक्षर पुरूष विश्वातीत आत्मा है। यह अनिर्वचनीय, अपरिणामी, निष्क्रिय, सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी है। गीता के अनुसार यह शरीर ही क्षेत्र है। पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दशेन्द्रिय, मन, प×चतन्मात्रायें, इच्छा, द्वेष, सुख–दुःख, संघत, चेतना और धैर्य इन इकतीस तत्त्वों के समूह को क्षेत्र कहा जाता है।[35] इन समस्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है। अतः इस क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ परमात्मा है। क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है। इसी क्षेत्रज्ञ को परब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक ज्ञान है। इस ज्ञान के बिना मुक्ति असम्भव है –

ऋते ज्ञानन्न मुक्तिः।

अतः यह जीव अनेक होकर भी एक ही है। इस एकत्व की भावना की सम्पुष्टि गीता में क्षेत्री की उपमा सूर्य से देकर की गई है। जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है।इससे स्पष्ट होता है कि जीव अंश है और परमात्मा अंशी। इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा शरीर की उपाधियों से भरा हुआ और पृथक्–पृथक् किया गया आत्मा ही जीव है। आत्मा एक है पर उपाधि भेद के कारण वह अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – इन चारों का अन्तः करण ही जीव को पृथक् करता है। आत्मा अहंकारी और अतीन्द्रिय चैतन्य है जीव व्यवहारिक चेतन्य। न यह आत्मा का अंश है न उसका परिणाम यह उसकी विभिन्न (जीव) रूप में प्रतीति मात्र है।

जब जीवगत् अविद्या नष्ट हो जाती है तो फिर वह अपने मूल रूप आत्मा में आ जाता है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता तथा कर्त्ता है। यह पाप–पुण्य अर्जित करता है और उसका फल भोक्ता है। यही आवागमन और संसरण करता है। यही बन्धन और मोक्ष का अधिकारी है। यद्यपि चिदानन्दमय आत्मा होने के कारण यह अमर्त्य, फिर भी कामनाओं से पूर्ण कार्यों को करने से उसका फल भोगने के लिए इसका अन्य शरीर ग्रहण करना मरण समझा जाता है।

उपसंहार

सच्चिदानन्दघन परमात्मा का सनातन अंश यह जीव अनादि काल से उनकी ''अपरा'' नाम वाली गुणमयी माया के परवश होकर इस त्रिविधतापयुक्त भवाटवी में भ्रमण करता आ रहा है। उनका यह संसरण अपने मूल अंशी को प्राप्त करने बाद बन्द हो जाता है।

इसी गमनागमनरूप सृष्टिचक्र से मुक्ति के लिए वेदादि ग्रन्थों ने अनेक साधनों की व्यवस्था की है, जिसका अनुसरण करने पर अनादि अविद्याकृत ग्रन्थि का विभोक हो जाने के कारण जीव ब्रह्मीभूत होकर कृतकृत्य हो जाता है। इसी अज्ञानजन्य बन्धन की निवृत्ति के लिए भगवत्गीता में विविध उपायों की विवेचना की गई है। जीव को फलाशक्ति का परित्याग कर शास्त्रनिर्दिष्ट अपने कर्त्तव्य कर्मों का समाचरण करना चाहिए। वह अन्तर्यामी परमात्मा समस्त जीवों के हृदय में अवस्थित है तथा एतदर्थ समरूप जीवों के शरीर में अवस्थित इस आत्मदेव का परिचिन्तन करना चाहिए। इस आत्मा में ही निखिल प्रपंच का दर्शन करना चाहिए। ऐसा होने पर समस्त प्रपंच आत्ममय दिखाई पड़ने लगता है तथा साधकों के माया–मोह का निराश हो जाता है।

[35]. गीता–13.6–7